Multidisciplinary International Magazine
(Peer-Reviewed)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
Volume 6, Issue 68, December 2020

JANKRITI जनकृति

बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रि
(विशेषज्ञ समीक्षित
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.88
www.jankriti.co
वर्ष 6, अंक 68, दिसंबर 202

बुजुर्गों का अकेलापन और हिन्दी सिनेमा
(विशेष सन्दर्भ: 'रूई का बोझ' और '102 नॉट आउट')

डॉ. आशा
हिन्दी विभाग, अदिति महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
9871086838,
drasha.aditi@gmail.com

वृद्धावस्था मानव जीवन की अनिवार्य स्थिति है. इसे जानते हुए भी हमारे समाज में बुजुर्गों के प्रति गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार निरंतर बढ़ रहा है. स्वयं की संतान की उपेक्षा और अनदेखी से आहत बुजुर्ग अवसाद, निराशा, चिड़चिड़ापन, अकेलेपन जैसे नकारात्मक भावों में घिर जाते हैं. "कितनी विडंबना है कि पूरे परिवार पर बरगद की तरह छांव फैलाने वाला व्यक्ति वृद्धावस्था में अकेला, असहाय एवं बहिष्कृत जीवन जीता है। जीवन-भर अपने मन, कर्म व वचन से रक्षा करने वाला, पौधों से पेड़ बनाने वाला व्यक्ति घर में एक कोने में उपेक्षित पड़ा रहता है, अस्पताल या वृद्धाश्रम में अपनी मौत की प्रतीक्षा करता है। आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति एवं सामाजिक मूल्यों के क्षरण की यह परिणति है।"[1] महानगरों की 'ग्लोबलाइज्ड सोसायटी' में ऐसे बुजुर्गों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है जिनके बच्चे विदेश (या दूसरे शहर) में पढ़-लिखकर वहीं बस गए हैं. बुजुर्ग अपनी संतान की घर-वापसी की बाट जोहते अकेले, असुरक्षित जीवन जीने को अभिशप्त हैं. गाँव-कस्बाई समाज में भी घर में रहने वाले बुजुर्गों की उपेक्षा, अपमान और तिरस्कार के मामले तेजी से बढ़ रहे हैं.

साहित्य की विभिन्न विधाओं में बुजुर्गों के अकेलेपन की पृष्ठभूमि को लेकर कई संवेदनशील रचनाएँ आयी हैं. 1970 के दशक में मराठी नाटककार जयंत दलवी ने 'संध्या छाया' (हिन्दी अनुवाद: कुसुम कुमार) नाटक लिखा था जिसमें दो-दो बेटों के होते हुए भी 'अकेले' माँ-बाप की व्यथा और मानसिक संत्रास को अभिव्यक्त किया गया. इसके साथ ही, "...अपने समय और समाज की धुकधुकी को पूरी उदात्तता, तटस्थता और विश्वसनीयता से पकड़नेवाली अनेक कहानियाँ हिंदी कथा साहित्य में मौजूद हैं। बात चाहे बुढ़ापे की ही क्यों न हो, जिसकी चर्चा होते ही हमारे जेहन में सूखा (निर्मल वर्मा), तलाश (कमलेश्वर), वापसी (उषा प्रियंवदा), पिता (ज्ञानरंजन), सिकुड़ता हुआ बाप (राजेंद्र भट्ट), उस बूढ़े आदमी के कमरे में (आनंद हर्षुल) आदि कई कहानियाँ कौंध जाती हैं।"[2] इसी सिलसिले में प्रेमचंद की 'बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन होता है' वाली 'बूढ़ी काकी' कहानी की याद आना स्वाभाविक है. सिनेमा ने भी बुजुर्गों के मुद्दों को कम मात्रा में ही सही, दर्शाया जरूर है. व्यवसाय की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय और लीक से हटकर विषय पर फिल्म बनाने के जोखिम और साहसिक कार्य के लिए निश्चित रूप से ऐसी फिल्मों के निर्माता-निर्देशक साधुवाद के पात्र हैं.

[1] https://hindi.webdunia.com/my-blog/international-day-of-older-116100100040_1.html
[2] https://www.hindisamay.com/content/7113/1/ बुजुर्ग अनुभूतियों की युवा अभिव्यक्ति
राकेश बिहारी

आमतौर पर बॉलीवुड रोमांटिक, मार-धाड़, नाच-गाने की मसालेदार फिल्मों के लिए जाना जाता है किन्तु थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद लीक से हटकर संवेदनशील मुद्दों पर बेहतरीन फ़िल्में भी आती रहती हैं. 'परिवार' हिन्दी फिल्मों का सदाबहार विषय है. पारिवारिक फिल्मों में ऐसे वृद्ध दिख ही जाते हैं जिन्होंने सारा जीवन बच्चों को 'बनाने' में लगा दिया किन्तु अब उन्हीं बच्चों की नज़रों में तिरस्कार और उपेक्षा भरी है. अक्सर बुजुर्गों को दयनीय, सहमे-सिमटे और रोते-बिलखते दिखाया जाता है. 'अवतार', 'अमृत', 'बागबान' जैसी कुछेक फिल्मों में बुजुर्गों को संतान के गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार से आहत होकर अपना स्वाभिमान बटोरते अवश्य दिखाया गया है. 'पीकू' में बुजुर्गों द्वारा अपनी छोटी-सी बीमारी को बहुत गंभीर मानने और अपनी संतान को उसके प्रति 'सीरियस' होने की आदत को रोचक ढंग से दिखलाया गया. 'मुक्तिभवन' में काशी में आख़िरी साँसे लेने की इच्छा रखने वाले वृद्ध पिता की जिद के आगे नौकरी और परिवार की जिम्मेदारियों में फँसे बेटे की ऊहापोह के बीच वृद्ध पिता का फिर से 'जी' उठना और परिवार के नयी सोच और नयी दृष्टि से बंधने को बेहतरीन ढ़ंग से दिखलाया गया. इसी क्रम में प्रस्तुत आलेख में बुजुर्गों के अकेलेपन पर केन्द्रित दो फिल्मों - 'रूई का बोझ' (1997) और '102 नॉट आउट' (2018) में उक्त समस्या के स्वरूप और 'ट्रीटमेंट' का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है.

1997 में सुभाष अग्रवाल के निर्देशन में आई 'रूई का बोझ' चन्द्रकिशोर जायसवाल के उपन्यास 'गवाह गैरहाज़िर' पर आधारित थी जिसमें पारिवारिक द्वंद्व में उलझे बुजुर्ग के अकेलेपन को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया. एन.एफ.डी.सी. के सहयोग से बनी इस फिल्म में पंकज कपूर (किसुनशाह), रीमा लागू (पुत्रवधू) और रघुवीर यादव (रामशरण) ने मुख्य भूमिकाएँ निभाई थीं. जी-तोड़ मेहनत से अर्जित की गयी संपत्ति का साधिकार प्रयोग करने वाली संतान के लिए माता-पिता कैसे बोझ बन जाते हैं – इस मसले को पूरी गंभीरता के साथ फिल्म में दिखाया गया. जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते जाते हैं, उनकी शादियाँ होती जाती हैं, खुद का परिवार बनने-बढ़ने-सँवरने लगता है – वैसे-वैसे बुजुर्ग दूर धकेले जाने लगते हैं. संपत्ति में हिस्सेदारी सब चाहते हैं लेकिन बुजुर्ग और विधुर पिता की जिम्मेदारी लेने से सब कतराते हैं. आखिरकार जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा अपने पास रखकर किसुनशाह सबसे छोटे बेटे रामशरण के पास रहने लगते हैं. शुरुआती दिन ठीक-ठाक चलते हैं, लेकिन धीरे-धीरे पिता और उनकी छोटी-मोटी जरूरतें – चश्मे की टूटी डंडी ठीक करवाना, नया कुरता सिलवाना, दवा के पैसे देना – उनका सादा खाना-पीना भी बहू-बेटे को भारी लगने लगती हैं. कभी-कभार पुराने दोस्तों के आने पर बहू को चाय बनाने की कहने पर – दूध खत्म होने का जवाब सुनकर लज्जित-अपमानित किसुनशाह मन मारकर चुप रह जाते हैं. बड़ी शिद्दत के साथ किसुनशाह को व्यर्थता-बोध होता है कि उन्होंने सारे पैसे बेटों को क्यों दे दिये? कुछ अपने लिए बचाकर क्यों नहीं रखे? किसुनशाह का दोस्त उन्हें समझाता है कि बुजुर्ग पिता बेटे के ऊपर रूई के बोझ के समान होता है. पहले-पहल हल्का लगता है लेकिन जैसे-जैसे रूई गीली होने लगती है (उम्र बढ़ने लगती है) तो वह बोझ उन्हें असहनीय लगने लगता है. इसलिए बुजुर्गों को परिवार के प्रति 'कम देखना और कम सुनना' की नीति अपनानी चाहिए. बूढ़े किसुनशाह के और अधिक अशक्त होने पर उन्हें और उनके सामान को दालान से उठाकर पिछवाड़े के कोने का कबाड़ हटाकर पटक दिया जाता है. उनका लाचार-शंकित-असुरक्षित व्यवहार परिवार में कभी हंसी तो कभी कुढ़न का पात्र बनने लगता है. सब कुछ संतान को देकर और बदले में बेटे-बहू-पोतों के तीखे बोल सुनने वाले असहाय और निराश्रित बने बुजुर्ग की बेबसी को फिल्मकार की सूक्ष्म दृष्टि और पंकज कपूर के मर्मस्पर्शी अभिनय

ने गहराई से उभारा है. बहू-बेटे के व्यवहार से आहत, असुरक्षित किसुनशाह घर-परिवार को मोह त्यागकर वरुणेश्वर बाबा के धाम की ओर निकल पड़ते हैं लेकिन घर के मोह से उपजा उनका अंतर्द्वंद्व बीच रास्ते से उन्हें वापस घर की ओर लौटा लाता है. "किशुनशाह के अनुभव के ज़रिए फिल्म कह गई कि बूढ़ों के लिए कोई मौसम अच्छा नहीं होता। सारे मौसम उनके दुश्मन होते हैं और जब मौसम भी तकलीफदेह हो जाए तो फिर हमें समझ लेना चाहिए कि बुज़ुर्गों की तकलीफ बयान नहीं की जा सकती।"[3] हालांकि फिल्म के अंत में बहू-बेटे को पिता के प्रति की गयी बदतमीजी और गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार से उपजे अपराध-बोध की ओर भी संकेत किया गया है. इस प्रकार 'रूई का बोझ' बड़ी बारीकी और संजीदगी से लाचार बुजुर्गों की पारंपरिक मनःस्थिति से परिचय करवाती है जो तिरस्कार-अपमान देने वाले परिवार को ही हर स्थिति में अपना आश्रय-स्थल समझते हैं.

'रूई का बोझ' के विपरीत '102 नॉट आउट' में बच्चों से दूर, उदासीन-उपेक्षित बुजुर्ग आत्मविश्वास से भरपूर दिखा है. उस आत्मविश्वास के पीछे बुजुर्ग की खुद की गढ़ी हुई जीवन-दृष्टि है, जो मानती है कि सबका जीवन उनका अपना और 'विशिष्ट' है. सौम्य जोशी के गुजराती नाटक '102 नॉट आउट' पर आधारित इस फिल्म की स्क्रिप्ट भी सौम्य जोशी ने ही लिखी है. फिल्म के केंद्र में मुम्बई के विले पार्ले के 'शान्ति निवास' में रहने वाले दो बुजुर्ग किरदार हैं – 102 वर्षीय पिता दत्तात्रेय व्खारिया (अमिताभ बच्चन) और उनका 75 वर्षीय बेटा बाबूलाल व्खारिया (ऋषि कपूर). बाप-बेटे की ऐसी जोड़ी शायद ही हिन्दी सिनेमा में इससे पहले देखी गयी हो! दोनों की जीवन-दृष्टि में अंतर है. पिता जिंदादिल, पहनने-ओढने में सुरुचि-संपन्न और हर क्षण में जीवन का रस ढूँढने वाला तो बेटा गुमसुम, निराश और उदासीन - जिसने बुढ़ापे को पूरी तरह ओढ़ और स्वीकार कर लिया है. सत्रह साल पहले पढ़ने के लिए विदेश गया बाबूलाल का बेटा अमोल नौकरी मिलने, शादी करने और बच्चे पैदा होने के बावजूद एक बार भी घर नहीं आया है. उसकी माँ की अस्थियाँ तक एक साल अपने लाडले का इंतज़ार करती रही और अंततः उन्हें प्रवाहित करना पड़ा. वह हर बार कोई-न-कोई बहाना बनाकर अपना आना टाल जाता है.

बेटे की 'समय की तंगी' से आजिज़ और घड़ी की सूईयों के हिसाब से जीवन 'मशीनी ढंग' से काट रहे बाबूलाल के ग़मगीन मिजाज़ को खुशमिजाज़ बनाने के लिए दत्तात्रेय एक अनूठी योजना बनाते हैं. एक चीनी व्यक्ति के धरती पर सबसे लम्बी उम्र जीने के रिकार्ड को तोड़ने के लिए दत्तात्रेय 16 साल 'और' जीने की अपनी तैयारी की बात बाबूलाल को बताते हैं किन्तु ऐसा तभी संभव होगा जब वे बाबूलाल जैसे 'बोरिंग' और 'बूढ़े' लोगों से दूर रहेंगे. इसीलिए वे बाबूलाल को वृद्धाश्रम में भेजने का ऐलान कर देते हैं. बेड की चादर या कमरे के परदे बदल दिए जाने तक अनिद्रा झेलने वाला बाबूलाल वृद्धाश्रम में रहने की बात सुनकर घबरा उठता है. इस आपद से बचने के लिए दत्तात्रेय बाबूलाल को कुछ शर्तें पूरी करने के लिए कहते हैं. बाबूलाल न चाहते हुए भी तैयार होता है. 'लव लेटर' लिखना, गमले में फूल उगाना, शादी की सालगिरह को 'सेलीब्रेट' करना – जैसी शर्तों को पूरा करते-करते बाबूलाल अपने 'बोरिंग शेड्यूल' को तोड़ते हुए पुनः 'जिन्दगी का रस' लेने लगता है. अंततः आख़िरी शर्त का वक्त आता है जिसे सुनकर बाबूलाल अक्खड़ और अड़ियल रुख अपनाते हुए भड़क उठता है – दरअसल, बाबूलाल का बेटा अमोल अचानक प्रोपर्टी की बात करने भारत लौटने का प्लान बनाता है – बाबूलाल उत्साहित होकर सारी तैयारी

[3] https://filmbibo.com/review/film-rui-ka-bojh-is-piece-of-art-pankaj-kapoor-and-it-tells-the-story-of-solitude-of-elderly-people/

करता है – लेकिन आख़िरी शर्त है कि बाबूलाल अमोल को घर में घुसने से पहले ही 'गेट आउट' बोलते हुए बैरंग लौटायेगा क्योंकि वह अपने पिता से मिलने नहीं बल्कि प्रोपर्टी हस्तगत करने के लिए आ रहा है. घनीभूत तनाव को झेलने और अंततः अपने पिता का मकसद जान लेने के बाद 'संतान-मोही-भावुक' बाबूलाल को भी बात समझ में आ ही जाती है और वह एयर पोर्ट पर ही अमोल को फटकार देता है. आखिरकार दत्तात्रेय खुद को बूढ़ा घोषित कर चुके अपने बेटे की जीवन-शैली और जीवन-दृष्टि बदलने में कामयाब होते हैं.

दोनों ही फिल्मों में बाप-बेटे के जोड़े है – '102 नॉट आउट' में पुरानी पीढ़ी के दत्तात्रेय और उनका बेटा बाबूलाल, बाबूलाल और उनका नयी पीढ़ी का बेटा अमोल. पहले जोड़े की 'बॉन्डिंग' और नजदीकी के आगे दूसरे जोड़े की 'फॉर्मेलिटी' और दूरी हार जाती है. 'रूई का बोझ' में भी बाप-बेटे हैं – दयनीय किशुनशाह और रामशरण – स्थिति किशुनशाह को ही बेबस ठहराती है और अंततः रामशरण को भी अपनी गलती का अहसास करवाती है. अगर सन्देश की बात करें तो 'रूई का बोझ' को देखकर संवेदनशील दर्शक, विशेषकर वृद्धों का मन मसोसकर रह जाता है, यह भाव तो खैर आता ही है कि हमें अपने बुजुर्गों से ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए. दूसरी ओर, '102 नॉट आउट' निराले अंदाज़ में कह जाती है कि उम्र महज एक संख्या है और इस संख्या के बढ़ने का असर अपने दिलो-दिमाग पर हावी नहीं होने देना चाहिए. क्या हुआ कि जिन्दगी में हमें अपनी अज़ीज़ चीज़ नहीं मिली – 'रौशन जहान और भी हैं' – बस अपना नजरिया बदले की जरूरत है. सफल फ़िल्में वही होती हैं जो दर्शक को कुछ दे जाएँ. 'रूई का बोझ' और '102 नॉट आउट' की प्रभावशालिता के सम्बन्ध में इतना तो जरूर कहा जा सकता है कि इन्हें देखने के बाद परस्पर दूर रहने वाले माता-पिता या बच्चों ने एक-दूसरे को कम-से-कम हाल-चाल पूछने के लिए एक फ़ोन तो अवश्य ही किया होगा.

'रूई का बोझ' में किसुनशाह खीझकर कह उठता है – 'बूढ़ों को क्या खाना-पीना-पहना नहीं होता ?' जिन्दादिली का हक़ केवल बच्चों और जवानों को ही नहीं होता उन बुजुर्गों को भी होता है जिन्होंने अब तक का अपना सारा जीवन बच्चों को कुछ बनाने की भाग-दौड़ में लगा दिया है. यह ठीक है कि बुजुर्ग परिवार में ही अधिक खुश रहते हैं किन्तु यदि वह स्थिति न बने पाये तो? अक्सर ऐसे बुजुर्ग निराश होकर अवसाद का शिकार हो जाते हैं. '102 नॉट आउट' में भी बाबूलाल की पत्नी चंद्रिका इसी मानसिक संत्रास का शिकार होकर अल्जाइमर की भेंट चढ़ जाती है. तो क्या दत्तात्रेय और बाबूलाल को भी इसी आत्मघाती राह पर चलना चाहिए – नहीं! हमें सुख और आनंद की नयी परिभाषाएँ गढ़नी होंगी! क्या हुआ कि आपकी संतान निर्मोही-निकम्मी है या मजबूरी में आपके पास नहीं रहती – आप के साथ 'आप' तो हैं ही न!

दोनों ही फ़िल्में युवा पीढ़ी को यह प्रचलित और प्रत्यक्ष सन्देश नहीं देती कि उन्हें अपने माता-पिता के पास रहना चाहिए या उनकी सेवा-सुश्रुषा करनी चाहिए. हालाँकि 'रूई का बोझ' देखकर बहुत शिद्दत से इसी सन्देश का आभास होता है. '102 नॉट आउट' का सन्देश विशेष रूप से बुजुर्गों के लिए है कि व्यर्थ की आस के चक्कर में अपनी ज़िंदगी नहीं खोनी चाहिए. बुढ़ापा कोई डर या असुरक्षा का भाव न होकर उम्र का एक पड़ाव-भर है - उसे सहर्ष स्वीकारें और खुलकर जीयें. यदि आपकी सोच जिन्दादिल और जवान है तो बढ़ती उम्र आपका कुछ नहीं बिगाड़

सकती! हालाँकि इस समाधान के साथ यह सवाल बना ही रहता है कि गरीबों की प्रधानता वाले हिन्दुस्तान में ऐसे बुजुर्गों की संख्या बहुत कम है जो आर्थिक दृष्टि से मजबूत हैं और अपने लिए सुविधाएँ जुटाने की हैसियत रखते हैं.

बहरहाल, उपर्युक्त दोनों फ़िल्में अलग-अलग दृष्टिकोणों से समाज को बुजुर्गों के प्रति और अधिक संवेदनशील होने की राह सुझाते हुए समाज के साथ बुजुर्गों को स्वयं अपने प्रति हो रहे दुर्व्यवहार को रोकने का बोध भी जगाती हैं.